सवाल पुस्तक संस्कृति को विकसित करने की ज़रूरत का है

कृष्ण कुमार

मित्रो, मुझे बहुत प्रसन्नता है कि विद्या भवन ने पुस्तकालय एवं पठन पर इतनी लम्बी गोष्ठी का आयोजन किया है। अपने आपमें यह अभूतपूर्व काम है। हमारी व्यवस्था में यह एक ऐसा विषय है जिसके बारे में निःसंकोच कहा जा सकता है कि इसकी लगातार अवहेलना हुई है। इस दृष्टिकोण से आज के सम्मेलन का बहुत विशेष महत्त्व है।

इस वक्तव्य के बिल्कुल शुरुआत में मैं एक ऐसी बात कहना चाहूंगा जो शायद आपको कुछ नागवार गुज़रे। हमारी व्यवस्था में बावजूद इसके कि कोई भी इस बात से असहमत नहीं है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए और पढ़ने पर ज़ोर होना चाहिए। बावजूद तमाम सहमति के अगर हमारी व्यवस्था में स्कूलों में पुस्तकालय नहीं हैं या जो हैं भी वे ठीक से नहीं चल पा रहे हैं और पढ़ने की क्षमता का विकास करनेवाली परिस्थितियां स्कूलों में क्या, शिक्षकों के प्रशिक्षण संस्थानों में भी नहीं हैं और बहुत करके हमारे महाविद्यालयों में भी नहीं हैं तो मैं कहना चाहूंगा कि शायद इसका एक कारण है कि आज हमारी शिक्षा व्यवस्था जिस भी स्थिति में है, इस शिक्षा व्यवस्था को दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है। और इस कारण जिस चीज़ की ज़रूरत नहीं है अगर वह पैदा नहीं होती या पैदा की जाने पर भी अगर वह पल्लवित नहीं होती तो बहुत चकित और न ही बहुत निराश होना चाहिए। जिस चीज़ की ज़रूरत नहीं है वह अगर ठीक से काम नहीं कर रही है तो कौन सा आश्चर्य है। इस बात को कहते हुए मैं केवल एक तर्क की ख़ातिर तर्क नहीं दे रहा हूं बल्कि वास्तव में इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहता हूं कि क्या हमारी स्कूली व्यवस्था में लाइब्रेरी की आवश्यकता है?

अगर आप सिर्फ़ दस्तावेज़ों पर जाएंगे और मुदालियार आयोग जो 1952–53 में स्थापित हुआ था, वहां से लेकर कोठारी आयोग से गुज़रते हुए राममूर्ति इत्यादि आयोगों से होते हुए और अभी जो मेरी संस्था ने राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा यानी नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क–2005 बनाया है और जो

अब एक नीति बन चुकी है वहां तक आएंगे तो आपको लगेगा कि भारत में आज़ादी के पहले से ही लगातार इस बात को लेकर सहमति रही है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए। मुझे लगता है कि सबसे पहले इसकी पुरज़ोर वक़ालत मुदालियार आयोग ने शुरू में ही कर दी थी। अगर उसके भी पीछे जाएं तो आज़ादी के बाद के पहले राधाकृष्णन आयोग ने भी विश्वविद्यालयी शिक्षा के सन्दर्भ में लाइब्रेरी के महत्त्व पर बहुत गहरा प्रकाश डाला था। तो अगर दस्तावेज़ों से चलेंगे तो आपको लगेगा कि मैं व्यर्थ में कुछ समय बरबाद कर रहा हूं क्योंकि हर दस्तावेज़ ने माना है कि लाइब्रेरी होनी चाहिए, ठीक से चलनी चाहिए। और जहां तक लाइब्रेरी चलाने के लिए विशेषज्ञों की ज़रूरत है या प्रशिक्षण की ज़रूरत है उसके भी पर्याप्त साधन हमारे देश में विकसित हुए हैं।

हम देखते हैं कि बी.लिब., एम. लिब. कोर्सेज आजकल अनेक विश्वविद्यालयों में दिए जा रहे हैं। तो ऐसा नहीं है कि लाइब्रेरियन नाम का व्यक्ति बनाने की ओर ध्यान नहीं गया है। ये सब हुआ है और राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर पर भी कुछ–कुछ प्रयास होता ही रहा है। राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता एक राष्ट्रीय स्तर की संस्था है, सम्मानित है भले ही कई समस्याओं और दुविधाओं से ग्रस्त है लेकिन फिर भी इसका एक महत्त्व है। राजा राम मोहन राय नाम से एक न्यास यानी एक ट्रस्ट केन्द्र सरकार ने स्थापित किया था। देशभर में प्रान्तीय सरकारों और ग़ैर सरकारी संगठनों को पुस्तकालय चलाने के लिए अनुदान देने का भी काम कर रहा है और उसके अनुदान से कई पुस्तकें पहुंच भी रही हैं।

इस तरह से देखें तो ऐसा लगता है कि जहां तक दस्तावेज़ों और नीतियों का प्रश्न है, कोई भी इससे असहमत नहीं दिखता है कि लाइब्रेरी नहीं होनी चाहिए। फिर भी मैं यह बात आपसे कुछ ज़ोर देकर और मज़ाक के तौर पर नहीं वास्तव में कहना चाहता हूं कि हमारी व्यवस्था मे दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है। इसका एक कारण है और मेरी इस बात का कारण दरअसल आपको मालूम है। अगर आप अपने इर्द–गिर्द बहुत अच्छे नम्बर पानेवाले लड़के–लड़कियों पर ग़ौर करें जो कि दसवीं व बारहवीं की परीक्षा में ऊंचे अंक लेकर निकलते हैं तो आप पाएंगे कि उनकी इस उपलब्धि स्तर में पुस्तकालय का योगदान नाममात्र का या प्रतीक जैसा भी नहीं है।

अगर आप देखना चाहते हैं ज़मीन के स्तर पर तो किसी आला से आला समझे जानेवाले स्कूल में पूरा दिन बिताइए और देखिए कि उस दिन का कितना हिस्सा अध्यापकों ने या बच्चों ने लाइब्रेरी में बिताया। अगर एक दिन से आपको बहुत सन्तुष्टि नहीं मिलती है और आप सोचते होंगे कि आज सोमवार हो सकता है या कोई विशिष्ट दिन तो हम मंगलवार को चलते हैं। मेरा आपसे आग्रह है कि आप पूरा सप्ताह वहां बिताएं चाहे उदयपुर, जयपुर या दिल्ली में या ऐसी संस्था में जो अच्छी ख़ासी फ़ीस लेती हो। अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल हो, यह सब चीज़ें उसमें हों और आप पूरा सप्ताह वहां बिताएं और देखें कि लाइब्रेरी का उपयोग कितने बच्चों ने किया? कितने अध्यापकों ने किया तो आप यह देखकर हैरान होंगे कि लाइब्रेरी का कोई विशेष इस्तेमाल पूरे सप्ताह में नहीं होता।

दरअसल अगर आप इस प्रश्न को थोड़ा और गहराई में जाने के लिए तराशेंगे तो आप पाएंगे कि ये कोई देखने लायक बात ही नहीं है। क्योंकि हमारी शिक्षा व्यवस्था जिस तरह से आज चल रही है उस व्यवस्था में परीक्षा इतनी प्रमुख है कि उसके लिए शिक्षा के किसी भी मूल्य की बलि चढ़ाना किसी भी मूल्य को एकदम छोड़ देना भी उपयोगी माना जाता है। मान लीजिए कि परीक्षा के विषय में कि आप जो पढ़ें ईमानदारी

इस तरह से देखें तो ऐसा लगता है कि जहां तक दस्तावेज़ों और नीतियों का प्रश्न है, कोई भी इससे असहमत नहीं दिखता है कि लाइब्रेरी नहीं होनी चाहिए। लेकिन फिर भी मैं यह बात आपसे कुछ ज़ोर देकर और मज़ाक के तौर पर नहीं वास्तव में कहना चाहता हूं कि हमारी व्यवस्था में दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है।

से पढ़ें, समझ कर पढ़ें और जितना आता है ईमानदारी से उतना बताएं। अगर उन उसूलों पर कोई लड़का या लड़की चले तो वह शायद पास भी नहीं हो सकता। फर्स्ट क्लास या मेरिट लिस्ट में आना तो सम्भव ही नहीं होगा। बहुत ऊंचे अंक आप तभी लेकर आ सकते हैं परीक्षाओं में जब आप उसूलों पर ना चलें यानी आप ज़्यादा से ज़्यादा ज्ञान रट लें, उसको समझने में ज़्यादा ध्यान न दें। गणित हो चाहे विज्ञान हो, आप बार बार अभ्यास करें। आप बग़ैर समझे हुए इतना अभ्यास करें कि प्रश्न क्या है, आप उसका उत्तर लिख सकें तो आप पाएंगे कि ऐसा करने पर आपके अंक बढ़ जाएंगे।

यही कारण है कि इस तरह की ट्रेनिंग देनेवाली संस्थाएं इतना पैसा हमारे शहरी माता–पिताओं से कमा रही हैं। इन संस्थाओं को कोचिंग इन्स्टीट्यूट बोलते हैं। नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क में इनको "स्कूल आउट साइड द स्कूल" की संज्ञा दी गई है। वो स्कूल जहां हर बच्चे स्कूल के बाहर जाते हैं। वहां उनको ऐसी दक्षताएं दी जाती हैं जिससे कि वो इम्तहानों में अच्छे अंक पा सकें। सिर्फ़ इम्तहानों में ही नहीं वो हमारे देश की सर्वोच्च माने जानेवाली आई.आई.टी. और मेडीकल कॉलेजों में प्रवेश के लिए होनेवाली परीक्षाओं मे भी अच्छे से अच्छे अंक लेकर अपनी प्रतियोगी हैसियत बना सकें। उस पूरी प्रक्रिया के लिए कहीं इस तरह की चीज़ का कोई महत्त्व नहीं है कि कोई लाइब्रेरी का इस्तेमाल करनेवाला हो या कि लाइब्रेरी जाकर किताबों में मक़बूल रहनेवाला हो, तरह–तरह की किताबें पढता हो। ऐसा बच्चा आज आई.आई.टी. में प्रवेश नहीं पा सकता, किसी मेडीकल कॉलेज में नहीं आ सकता। मेरा तो अन्दाज है कि वो दिल्ली विश्वविद्यालय में जहां मैं आम तौर पर पाया जाता हूं या कि और विश्वविद्यालयों में भी नहीं आ सकता क्योंकि इन विश्वविद्यालयों में एक सघन प्रतियोगिता से आप गुज़रते हैं, तभी आप पहुंच पाते हैं। यह प्रतियोगिता पूरी तरह परीक्षा पर आधारित है। और आज की परीक्षा व्यवस्था में इस बात की गुंजाइश नहीं है कि वह इस बात पर ध्यान दे कि किसी बच्चे को लाइब्रेरी के केटलॉग का इस्तेमाल करना आता है कि नहीं। क्या उसने बग़ैर किसी के कहे हुए वर्ष में आठ–दस किताबें ख़ुद अपनी रुचि से पढ़ीं या कि उसमें किताबें पढ़ने की रुचि है भी कि नहीं। यह मुद्दा सिर्फ़ परीक्षा व्यवस्था का ही है, ऐसा मत सोचिए। आप किसी नामीगिरामी स्कूल के रिपोर्ट कार्ड पर विचार करें। इस शहर में भी ऐसे कई स्कूल हैं। आप देखिए किसी का कार्ड। अब तो सरकारी स्कूलों में भी ऐसे कार्ड बनने लगे हैं जिनसे हर महीने हर यूनिट टेस्ट के बाद माता–पिताओं को बताया जाता है कि क्या–क्या चीज़ें उनके बच्चे में ठीक से चल रही हैं। तो आप पाएंगे कि उसमें अलग–अलग विषयों के नम्बर लिखे होंगे। साथ में कुछ और विशेषताएं भी लिखी होंगी कि उसका व्यवहार कैसा है, उसमें नेतृत्व की क्षमता है कि नहीं, दूसरों से सहयोग करता है कि नहीं। एक्स्ट्रा करिकुलर एक्टीविटीज़ में उसकी रुचि है कि नहीं। इससे आशय होता है कि कला मे रुचि है कि नहीं इत्यादि। लेकिन आपको किसी कार्ड पर ऐसा नहीं मिलेगा कि इस वर्ष उसने कितने उपन्यास पढ़े। क्या उसकी बाल साहित्य में रुचि है? क्या वह अपने आप कुछ किताबें ढूंढ़ता है? अच्छे से अच्छे स्कूल में आपको प्राइमरी या अपर प्राइमरी स्तर पर, सैकण्डरी स्तर पर कहीं ऐसा कोई उल्लेख रिपोर्ट कार्ड में नहीं मिलेगा। इसलिए अगर किसी बच्चे की पढ़ने में रुचि जाग्रत हो गई है और वह पढ़ता है, व ढूंढ़कर किताबें पढ़ता है तो इसका कोई प्रतिबिम्ब आपको उसकी प्रगति पुस्तिका में नहीं मिलेगा।

जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है उसमें भी दरअसल बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है।

इस पूरे दृष्टांत से मैं यह सिद्ध करना चाहता था कि अगर आज स्कूल में पुस्तकालयों की दशा अच्छी नहीं है और यह तीन दिवसीय सम्मेलन इस विषय पर विचार करने जा रहा है तो हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में पुस्तकालय की ज़रूरत कैसे पैदा की जाए? क्योंकि आज वह ज़रूरत नहीं है।

इस सब में आप यह भी जोड़ लें कि जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है उसमें भी दरअसल

बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है। एक बड़ा भारी फ़र्क़ हमारी व्यवस्था करती है। हमारी संस्कृति भी करती है। एक वो जिन्हें पाठ्यपुस्तक कहा जाता है– पढ़ने लायक किताब। और दूसरी पुस्तकें दीन–हीन पुस्तकें जो पाठ्य नहीं हैं। पाठ्यपुस्तक क्यों पाठ्य है? इसी कारण पाठ्य है क्योंकि परीक्षा उससे जुडी हुई है। अगर पाठ्यपुस्तक कोई बच्चा कायदे से पढ़ेगा तो परीक्षा में उसके अच्छे अंक लेकर आने की सम्भावना बढ़ जाएगी। श्रेष्ठ बालक तो वो माना जाता है जो न केवल पाठ्यपुस्तक पढ़ता है बल्कि सिर्फ़ पाठ्यपुस्तक पढता है और अन्य पुस्तकों की ओर देखता भी नहीं है। अगर आप माता–पिताओं का सर्वेक्षण करें (ऐसे सर्वेक्षण सन् 50 के दशक से ही लगातार होते रहे हैं) तो ऐसा विचार आपको आम तौर पर सुनने को मिलेगा कि अनाप–शनाप किताबें पढ़ता रहता है। जो पढने लायक हैं उस पर ध्यान नहीं देता है।

सामान्य किताबों को लेकर, ख़ासकर साहित्य को लेकर लड़के और लड़कियों दोनों के सन्दर्भ में एक संशय हमारी संस्कृति में बहुत समय से विद्यमान रहा है। यह संशय लड़कियों के सन्दर्भ में विशेष इस्तेमाल किया जाता है। लड़कों के सन्दर्भ में कुछ कम, लेकिन दोनों के ही सन्दर्भ में इस्तेमाल होता है। यह संशय कुछ–कुछ उन्हीं रूपों में प्रकट होता है जिस तरह वो सिनेमा के सन्दर्भ में प्रकट होता है। हमलोगों की पीढ़ी में तो कहा ही जाता था कि सिनेमा देखोगे तो बरबाद हो जाओगे। सिनेमा भाग–भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार–मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग–भागकर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन सा पक्ष है? जीवन के कौन से आयाम हैं जिनको स्कूल नहीं खोल पा रहा है? कुछ–कुछ यही हिस्सा साहित्य पर लागू होता है।

अनेक जीवनियों में आप ऐसे किस्से पढ़ेंगे कि जिन लोगों को साहित्य पढ़ने की इच्छा थी बचपन में उन्होंने भी पाठ्यपुस्तक मे छिपाकर उपन्यास पढ़ा। ख़ासकर उपन्यास की विधा तो हमारी संस्कृति में बहुत समय से जब से इसका जन्म हुआ तभी से बदनाम रही है। क्योंकि उपन्यास को एक तो पढ़ने में समय लगता है और उसमें जीवन की कथा होती है। और बड़ों और बच्चों के बीच हमारे समाज में आधुनिक समय में रिश्ता ही कुछ ऐसा बना है कि बड़े यह नहीं चाहते हैं बच्चों को बचपन में ही जीवन के बारे में मालूम चल जाए। बहुत से प्रश्नों के उत्तर में बच्चों से बड़े कह भी देते हैं कि जब बड़े हो जाओगे तब सब समझ जाओगे। अभी तो नकाब पहनकर सिर्फ़ पढ़ाई करो।

कुछ बच्चों में येन–केन प्रकारेण किसी प्रकार रुचि हो भी जाती है बावजूद इसके कि हर व्यक्ति इस रुचि को तोड़ने की कोशिश करता है, हतोत्साहित करता है। पढ़ने की, किताबों से वंचित रखने का प्रबन्ध हमारी संस्कृति घरेलू भी, सामाजिक भी और स्कूल की संस्कृति भी करती है जिससे वह साहित्य की ओर कहीं प्रवृत न हो जाए। कविता भी कुछ इस तरह से काफ़ी समय तक बदनाम रही है। कई बार मुझे लगता है कि आजकल जो हमारे समय में हिन्दी में कविता लिखी जाती है वैसे ही लोकप्रिय नहीं है जिसको आधुनिक कविता कहते हैं। उसके जन्म का संस्कार भी ऐसे ही पड़ा होगा कि अब यह कविता ऐसे लोगों को आकर्षित नहीं करेगी, तो कम से कम बदनाम तो नहीं होगी वरना पहले के समय में कविता के बारे में भी यही भावना थी कि इसमें जज़्बात होते हैं भावनाएं होती हैं। कम से कम लड़कियों के लिए तो जज़्बात उपयोगी नहीं माने जाते हैं। आज़ादी

हम लोगों की पीढ़ी में तो कहा ही जाता था कि सिनेमा देखोगे तो बरबाद हो जाओगे। सिनेमा भाग–भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। और उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार–मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग–भागकर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन सा पक्ष है? जीवन के कौन से आयाम हैं जिनको स्कूल नहीं खोल पा रहा है?

के आन्दोलन में ही यह बात विकसित होने लगी थी जब लगता था कि एक देशप्रेमी बनने के लिए जिस तरह का पौरुष ज़रूरी है साहित्य उस तरह के पौरुष को हटाएगा।

इस पूरे माहौल का कुछ–कुछ एहसास मुझको पहली बार अपनी एक ऐसी यात्रा में हुआ जिसमें एक बहुत ही अनोखी बात देखी। कुछ वर्ष पहले जब बर्लिन विश्वविद्यालय में एक दिन रहकर एक बहुत बड़ा आंगन देखने का मौक़ा मिला। बहुत ही बड़ा आंगन! उस विशाल आंगन के बारे में हमें बताया गया था कि इस आंगन में 1930 के दशक के मध्य में बहुत बड़ी तादाद में विश्व साहित्य को जलाया गया था। इसको बुक बर्लिन ब्लास्ट के रूप में जाना जाता है। इसकी स्मृति में वहां बहुत ख़ूबसूरत स्मारक बर्लिन विश्वविद्यालय ने बनवाया। हर वर्ष जिस दिन यहां किताबें बड़ी मात्रा मे जलाई गयी थीं, उस दिन बर्लिन विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की ओर से एक बहुत बड़ा आयोजन होता है। उस मैदान को किताबों से भर दिया जाता है और उस मैदान पर उन हज़ारों लेखकों व कवियों के नाम भी लिखे जाते हैं जिनकी पुस्तकें वहां जलाई गई थीं। संयोग से मैं उस दिन वहां था जिस दिन यह आयोजन होना था। उन नामों से गुज़रते हुए निगाहें एक नाम पर पड़ी टैगोर की गीतांजलि पर। गीतांजलि को भी वहां जलाया गया था।

मेरे एक मित्र जो कि वहां प्रोफेसर हैं, मैंने उनसे पूछा कि ये किताबें किस आधार पर चुनी गई थीं? उनकी संख्या दसियों हज़ार की तादाद में थीं। तो उन्होंने बताया कि ये हिटलर के उत्कर्ष का युग था। नागसीवाद में मान्यता थी कि जो भी साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जगाता है या भावनात्मक रूप से उसको गहराई देता है वो साहित्य जर्मनी को सबल नहीं बना सकता। अगर जर्मनी को एक मजबूत देश बनना है, एक पुरुषार्थी देश बनना है जो कि दुनियाभर पर हमला करके उसे जीत ले तो ऐसा देश बनने के लिए ऐसे कमज़ोर लोगों से काम नहीं चल सकता है जिनकी भावनाएं रह–रहकर उमड़ती हों, इसलिए ऐसे सभी लेखकों को चुना गया था। ऐसे सभी कवियों को चुना गया था जो मनुष्य की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारत से यह गौरव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मशहूर कृति गीतांजलि को प्राप्त हुआ था जिसको नोबल पुरस्कार मिला है। आंगन में उस दिन विश्व साहित्य का शायद ही कोई नाम होगा जो ना लिखा हो। उस दिन की स्मृति में पूरे बर्लिन शहर में जगह–जगह किताबों को पढ़कर सुनाया जाता है। छोटे–छोटे बच्चों को लेकर दर्जनों की तादाद में मांएं, पिता, आम लोग आते हैं। छोटे–छोटे कमरों में बैठकर रेस्तराओं मे बैठकर, चौराहों पर बैठकर, पार्क में बैठकर पूरे दिन पूरे शहर में देख सकते हैं कि लोग कोई किताब पढ़कर सुना रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि नागसीवाद की तरह यह दिन भी जर्मनी के इतिहास का काला दिन था। इसलिए ऐसा दिन फिर कभी ना आए, ऐसा करने के लिए इस दिन को एक महत्त्वपूर्ण तारीख़ मान लिया गया है।

बहुत सी ऐसी गुत्थियां हैं जो मेरे दिमाग़ में अपने देश को लेकर रही हैं और आज भी हैं। कुछ–कुछ उस दिन समझ में आईं कि हमलोग क्यों बच्चों के हाथ में किताब देने से संकोच करते हैं? क्यों सोचते हैं कि केवल मान्य पाठ्यपुस्तक जिसको सरकार ने लिखवाया हो वही बच्चों के हाथ में जानी चाहिए। कोई अनाप–शनाप किताब उनके हाथ में न चली जाए। कौन–कौन सी शंकाएं हमारे मन में हैं? कैसा संशय है किताब को लेकर? हमारे मन में इन संशयों ने आधुनिक समय में एक नया रूप भी हासिल किया है। आप देखते होंगे कि अक्सर शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करते समय जिन जुमलों का, नारों का प्रयोग होता है उनमें से एक नारा यह भी होता है कि 'बुकिश लर्निंग क्या किताबी कीड़ा बन रहे हो, 'कुछ करके देखो।' मेरी प्रिय संस्था किशोर भारती और एकलव्य जिसके सहयोगी आज हमारे साथ मौजूद

बहुत सी ऐसी गुत्थियां हैं जो मेरे दिमाग़ में अपने देश को लेकर रही हैं और आज भी हैं। कुछ–कुछ उस दिन समझ मे आईं कि हमलोग क्यों बच्चों के हाथ में किताब देने से संकोच करते हैं? क्यों सोचते हैं कि केवल मान्य पाठ्यपुस्तक जिसको सरकार ने लिखवाया हो वही बच्चों के हाथ में जानी चाहिए।

हैं, उन्होंने भी एक नारा इसी तरह दिया था "लर्निंग बाइ डुईंग" जो कोई नया नारा नहीं है। उन्होंने हिन्दी में इसको प्रचारित किया और एक आन्दोलन खड़ा कर दिया, "खुद करके देखो"। हालांकि यह नारा विज्ञान के सन्दर्भ में था पर यह कहीं न कहीं एक गहरे स्तर पर लोगों को किताब में दिए गए ज्ञान से कुछ–कुछ विरक्त और अपने हाथ से किए गए अपने अनुभव से पैदा किए गए, ज्ञान के प्रति कुछ–कुछ अनुरक्त बनाने के लिए एक सूक्ष्म स्तर पर काम करता है। एक ऐसी संस्कृति में जहां किताब पहले ही दुर्लभ है। अगर प्रकट भी होती है तो प्रायः बदनाम हो जाती है। या बच्चों के हाथ तक नहीं पहुंचने दी जाती है, ऐसी संस्कृति में जो बुकिश लर्निंग या किताबी कीड़ा बनने से परहेज करनेवाली जो बातें हैं ये भी कहीं न कहीं उस संस्कृति को उत्साहित करती है जिसमें किताब को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है।

सौ डेढ़ सौ साल पहले से आधुनिक शिक्षा की जो संस्कृति जन्मी उसमें भी तरह–तरह से आंख का काम, ज़्यादा बारीक़ी से करनेवाले विद्वान का मज़ाक उड़ाया जाता था। पहले इसलिए भी क्योंकि वो अंग्रेज़ी पढ़ लेता था लेकिन कुछ–कुछ इसलिए भी क्योंकि उससे हाथ से काम करने की प्रवृति घट जाती थी। बहुत सा आधुनिक शिक्षा विज्ञान अगर आप इस दृष्टिकोण से देखें तो आपको लगेगा कि किताब को हटाकर हाथ के काम को प्रमुख बनाने का विज्ञान है। कोई आश्चर्य भी नहीं कि ऐसा गांधी को भी स्वयं यह काम करना पड़ा क्योंकि वास्तव में हमारे धर्म में यह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा था कि हम कैसे हाथ के अनुभव को महत्त्वपूर्ण बनाएं। इसीलिए किताब की, किताबी आदमी की जिसकी आंख कमज़ोर हो गई है, जिसको चश्मा लग गया है, ऐसी चीज़ों की आलोचना करते हुए कुल मिलाकर हम किताबी संस्कृति की आलोचना करना उचित मानते हैं। भारतेन्दु ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही लिख दिया था कि ''घड़ी, छड़ी, चश्मा भये, छत्रिन के हथियार।'' ऐसी संस्कृति आई है कि नई शिक्षा में क्षत्रियों ने तलवार की जगह अब चश्मा लगाना शुरू कर दिया है और कटार की जगह कलम इस्तेमाल करने लगे हैं। ये पूरा सन्दर्भ मैं इसलिए नहीं दे रहा हूं जिससे कि कोई अनोखी, नई बात कही जाए बल्कि इसलिए दे रहा हूं जिससे कि हम इस बात को समझें कि अगर पुस्तकालयों को, पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को वास्तव में एक ज़रूरत बनाना है समाज की, शिक्षा की, स्कूली व्यवस्था की तो इसमें काम और सोच दोनों को ही काफ़ी गहराई से करना होगा।

हम इस बात को समझें कि अगर पुस्तकालयों को, पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को वास्तव में एक ज़रूरत बनाना है समाज की, शिक्षा की, स्कूली व्यवस्था की तो इसमें काम और सोच दोनों को ही काफ़ी गहराई से करना होगा।

भारत लगातार एक बदलता हुआ देश है। इसमें बहुत कम समय में मुश्किल से 150–200 वर्ष में कई ऐसी यात्राएं की हैं जिनको यूरोप ने 400–500 वर्षों में किया और कई ऐसी यात्राएं अभी भी चालू हैं जो हमारे जीवन में पूरी नहीं होंगी बल्कि कई पीढ़ियां इन यात्राओं में निकल जाएंगी। इन्हीं में से एक यात्रा है पढ़ने–लिखने की। पढ़ने–लिखने की संस्कृति को सामान्य बनाने की, हर इन्सान को किताबों के प्रति आकर्षित करने की, और किताब को एक ऐसा माध्यम बनाने की जिससे समाज में एक दूसरे की बात सुनने की, एक दूसरे की बात सहने की, अपनी बात आत्मविश्वास के साथ कहने की, तहज़ीब पैदा हो, चिल्लाकर कहने की नौबत न आए। हथियार उठाने की नौबत न आए। शान्ति की संस्कृति जो कि अपनी बात कहती है लेकिन उससे जब कोई सहमत नहीं होता तो इतना ग़ुस्सा नहीं करती कि दूसरे को लगे कि उसकी बात बिल्कुल व्यर्थ है। ये एक राजनीतिक मसला भी है। इसमें एक सांस्कृतिक अनुगूंज है, एक ऐतिहासिक मसला भी है, और इसकी राजनीति आज के समय में आप देख ही रहे होंगे जहां किताबों का चयन अपने आप में अक्सर एक राजनीतिक प्रश्न बन जाता है। फिर पाठ्यपुस्तकों का निर्माण ही नहीं बल्कि सामान्य पुस्तकों का चयन भी एक राजनैतिक प्रश्न बन जाता है क्योंकि ये डर लगता है कि हमारी किताबें आएंगी या उनकी किताबें

आएंगी। अगर किताबें पहुंचनी हैं तो बच्चों के हाथ में किनकी किताबें पहुंचें? क्योंकि हमारे माहौल में बच्चों पर भरोसा नहीं है किसी का, हर आदमी सोचता है कि हम बच्चों को अपनी तरह का इन्सान बना दें। बच्चे खुद कैसे इन्सान बनेंगे, इस बात में हमारे यक़ीन नहीं हैं। इसलिए लगातार एक कशिश, एक तनाव समाज में उठनेवाली हिंसा मतों को लेकर, विचारों को लेकर, बातों को लेकर पैदा होती रहती है। उसकी बहुत सी बानगी आप पिछले दो तीन हफ़्तों से देख रहे हैं एक नई तरह से। उसका स्वरूप देख रहे हैं उड़ीसा में, दक्षिण के राज्यों में जहां हम सोचते थे कि एक अपेक्षाकृत विकसित वातावरण बना है। देश के सबसे विकसित माने जानेवाले गुजरात राज्य में ये जो पूरा सिलसिला है जो कहीं न कहीं हमको इन प्रश्नों पर दुबारा लौटने के लिए बाध्य करता है। जिनकी ओर मैंने इस पहले हिस्से में ध्यान दिलाया है।

दरअसल दूसरा हिस्सा जो मुझे अपनी बात को आज कहना था जो एक तरह से आज शुरू हो चुका है। अब वो हिस्सा है कि आप पुस्तकालय की संस्कृति बनाने निकले हैं। लाइब्रेरियों का निर्माण करने निकलते हैं, सोचते हैं कि हम हर स्कूल में लाइब्रेरी बनाएंगे। हर कक्षा में लाइब्रेरी बनाएंगे या कि नगर–नगर में, गावों में, लाइब्रेरी होगी तो किन समस्याओं से हम पेश आते हैं। उनमें से कुछ का नज़ारा, कुछ की बानगी आपको नज़र आ गई होगी। और शायद इनमें दो समस्याएं सबसे प्रमुख हैं जिनकी ओर मैं संक्षेप में इशारा करना चाहूंगा कि दोनों ही ऐसी समस्याएं हैं जिनसे उस हर शख़्स को पेश आना पड़ेगा। जो कि एक छोटी सी भी लाइब्रेरी बनाने के लिए निकला है। अब इसलिए पेश आना पड़ेगा क्योंकि लाइब्रेरी एक सार्वजनिक संस्था है।

किताबें मिठाइयां नहीं हैं जो पहले से पता हों कि फलाने की दुकान पर मिलती हैं। किताबों का मसला बहुत ही जटिल है। अव्वल तो इतनी किताबें हैं और उनमें से कुछ को ख़रीदने की हमारी कुव्वत है। दूसरे, किताबें जगह लेती है और जगह लेती हैं तो इस तरह से लेती हैं कि पसरकर बैठ जाती हैं।

अगर आप अपने घर में लाइब्रेरी बना रहे हैं तो एक अलग मसला है। अगर लाइब्रेरी का अर्थ ही है कि वह जगह जहां चार अपरिचित लोग आएंगे तो आपका वास्ता इन दो समस्याओं से ज़रूर पड़ेगा जिनकी ओर मैं संक्षेप में इशारा करने जा रहा हूं। इनमें से पहली समस्या है चयन की जिसकी ओर थोड़ा सा इशारा मैंने आपसे पहले किया कि कौन सी किताबें आएंगी यहां? कौन चुनेगा इन किताबों को? किस आधार पर चुनेगा इन किताबों को? कौन होता है वो चुननेवाला? ये चारों प्रश्न एक साथ प्रकट होंगे। जब ये प्रश्न सरकारी सन्दर्भों में प्रकट होते हैं तो प्रायः इतना प्रच्छन रूप से प्रकट होते हैं कि आम जन को दिखाई नहीं देते कि ये कितने गम्भीर प्रश्न हैं। क्योंकि किताबों का मसला ऐसा नहीं है कि आप जेब में पैसे लेकर निकले और बाज़ार से कुछ किताबें ख़रीदकर लाएं। किताबें मिठाइयां नहीं हैं जो पहले से पता हों कि फलाने की दुकान पर मिलती हैं। किताबों का मसला बहुत ही जटिल है। अव्वल तो इतनी किताबें हैं और उनमें से कुछ को ख़रीदने की हमारी कुव्वत है। दूसरे, किताबें जगह लेती हैं और जगह लेती हैं तो इस तरह से लेती हैं कि पसरकर बैठ जाती हैं। एक बार आपने कुछ किताबें ख़रीद लीं और जो जगह आपके स्कूल में या आपकी संस्था में थी वो आपने भर ली। अब अगर आपको कुछ वर्ष बाद ये दिव्य ज्ञान हो भी कि वो किताबें बहुत अच्छी नहीं थीं तो उन किताबों से मुक्ति पाना बड़ा मुश्किल काम है। क्योंकि अगर आप किताबों को हटाते हैं तो चार लोग आपकी आलोचना करना शुरू कर देंगे कि देखो किताबें हटा रहे हैं। आप उनको फाड़ंगे, जलाएंगे तो वही समस्या आएगी जो मैंने आपसे पहले बतायी। आपके मन में भी एक प्रश्न होगा कि मैं भी किताबों को नष्ट करनेवाला बन गया। कैसा आदमी हूं? आप सोचेंगे कि अच्छा होता किसी को दे देते। तो आपके मन में दो बार यह ख़्याल ज़रूर आएगा कि जिन किताबों को मैं नहीं रखना चाहता वो दूसरों को देना कोई अच्छी बात है क्या? अगर ये किताबें

अच्छी होतीं तो मैं ही इनको रखता और हम इन्हें दूसरों को दे रहे हैं जिसके पास मेरी तुलना में भी कम किताबें हैं। तो मैं उसको ऐसी किताब दूं जो कि कुछ बेहतर हो लेकिन मैं वो किताबें दे रहा हूं जो कि मैं हटाना चाहता हूं। ये सारे प्रश्न किताबों को लेकर आपके मन में आएंगे। किताबों का चयन एक बहुत ही मुश्किल काम है। जब सरकारें ऐसी समिति बनाती है जिसको ये ज़िम्मा दिया जाता है कि भई कुछ किताबों की सूची बनाओ तो वो समिति के सामने बड़े इस तरह के पेचीदा सवाल उभरते हैं कि हम कैसे ये सूची बनाएं? अव्वल तो कोई ऐसा इन्सान नहीं होता जिनको पता हो कि दुनिया में जितनी तमाम किताबें हैं उनमें से कौन सी लेने लायक है। अगर पता हो तो भी यह प्रश्न उठता है कि उस समिति में हर व्यक्ति की राय किस तरह शामिल हो पाएगी? सरकारी समितियों के साथ जो सबसे बड़ी सीमा होती है, समय की होती है। समिति आज बनी और उससे कहा जाता है कि 25 तारीख़ तक सूची जमा कर दो। उस बीच दस हज़ार किताबों में से उसको आठ सौ चुननी है। अगर वो व्यक्ति अरस्तु भी हो तो भी उसके लिए बड़ा मुश्किल है कि वो दस हज़ार किताबें 25 तारीख़ तक पढ़कर उसमें से आठ सौ चुन ले। अगर चार–छह आदमी उसमें हैं तो आप समझिए कि यह असम्भव है। तो प्रायः किताबों को यूं ही पलटकर देखकर कह देते हैं कि हां भाई ठीक है ले लो। यहां पर अनेक प्रकार की भावनाएं, अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह काम आते हैं। बहुत से लोगों को वो किताबें ठीक लगती हैं जो उन्होंने ख़ुद पढ़ रखी हैं बचपन में। बहुत से लोगों को नागवार गुजरती हैं जो उनके शत्रुओं ने पढ़ी हों। बहुत से लोगों को किताबें देखकर एहसास हो जाता है कि ये लेने लायक है या नहीं। हमारी व्यवस्था में तो आप जानते हैं इम्तिहान की कॉपी देखकर ही बहुत से लोगों को पता चल जाता है कि इसको 'साठ' नम्बर मिलने चाहिए इसको 'चालीस'। हमारे यहां इस तरह की बुक रीडिंग बहुत होती है या नोट बुक रीडिंग ऐसी स्थिति में ये बड़ा मुश्किल काम होता है किताबों का चयन दिए गए समय में कैसे किया जाए? चयन के लिए प्रायः पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में एक जगह उपलब्ध भी नहीं होतीं। और यहां आता है दूसरा पहलू जो इसी संदर्भ में मुझे आपके सामने रखना है। वो पहलू है एक ऐसे बाज़ार का जिसके अपने कोई नियम नहीं हैं। किताबों का बाज़ार, किताबों के निर्माण का उद्योग।

अगर आप बहुत ज़्यादा बुरा ना मानें और इस सभा में बैठे हुए लोग किताबों की दुनिया से ही निकले हुए लोग हैं, इसलिए हो सकता है उनकी भावनाओं को मैं आहत करूं, इसलिए मैं पहले से ही भूमिका दे रहा हूं। बुरा ना मानें आप, किताबों का बाज़ार, किताबों का उद्योग, उद्योगों में अगर गिना जाए तो सबसे भ्रष्ट उद्योगों में से है। जिसमें आज एक प्रकार की ऐसी तलछट देखने को मिलती है जिसमें से कोई चीज़ कायदे से ढूंढ़कर के निकालना बड़ा मुश्किल है। कौन सी किताब छपेगी? कौन सी नहीं छपेगी? इसके आधार अधिकांश प्रकाशकों के पास नहीं हैं। अनाप–शनाप सब कुछ छपता है और क्यों छप रहा है इसके भी अनेक कारण होते हैं। बहुत सी पुस्तकें केवल इसलिए छपती हैं जिससे वो सरकारी बिक्री में आ सकें। बहुत से प्रकाशक अनेक नामों से पुस्तकें छापते हैं। बहुत से लेखक अनेक नामों से पुस्तकें लिखते हैं। इस पूरे जगत् में कोई सामान्य इन्सान पहुंच जाए तो उसको वास्तव में लगेगा कि मैं कहां आ गया। इससे अच्छा तो मैं उस दुनिया में था जहां कोई किताब नहीं थी, जहां पेड़ ही थे, जानवर थे। वरना इस जगह पर यह तय करना कि ये किताब मेरे तक कैसे पहुंची, बड़ा मुश्किल काम है। कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए हमको इस बात से कि अगर आप आज किसी डाइट के पुस्तकालय में जाएं, सर्व शिक्षा

बुरा ना मानें आप, किताबों का बाज़ार, किताबों का उद्योग, उद्योगों में अगर गिना जाए तो सबसे भ्रष्ट उद्योगों में से है। जिसमें आज एक प्रकार की ऐसी तलछट देखने को मिलती है जिसमें से कोई चीज़ क़ायदे से ढूंढ़कर के निकालना बड़ा मुश्किल है। कौन सी किताब छपेगी? कौन सी नहीं छपेगी? इसके आधार अधिकांश प्रकाशकों के पास नहीं है।

बहुत सी पुस्तकें केवल इसलिए छपती हैं जिससे वो सरकारी बिक्री में आ सकें। बहुत से प्रकाशक अनेक नामों से पुस्तकें छापते हैं। बहुत से लेखक अनेक नामों से पुस्तकें लिखते हैं। और इस पूरे जगत् में कोई सामान्य इन्सान पहुंच जाए तो उसको वास्तव में लगेगा कि मैं कहां आ गया। इससे अच्छा तो मैं उस दुनिया में था जहां कोई किताब नहीं थी, जहां पेड़ ही थे, जानवर थे।

अभियान के अन्तर्गत बहुत बड़ी मात्रा में किताबों की ख़रीद हुई है गांव–गांव में पुस्तकें पहुंची हैं। ज़्यादा नहीं तीस चालीस ही सही। पर आप वो स्कूल खुलवाकर उसकी लाइब्रेरी की अलमारी खुलवा कर ग़ौर करें तो आप कुछ विलाप की मुद्रा में तुरन्त आ जाएंगे कि ये किताबें ली गई हैं। इन किताबों को कौन पढ़ेगा? बहुत सी किताबें सिर्फ़ इसलिए ली गई हैं कि दिखने में कुछ शोख़ लग रही थी, कुछ–कुछ इस तरह के उनके कव्हर थे जिस तरह से एक शादी का कार्ड होता है, चमकदार तेज रंग वाले चित्र उसमें थे। थोड़ा बारीक़ी से आप देखेंगे तो बड़े क्रूर चेहरे, अटपटी भाषा मिलेगी। किसी चीज़ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था फिर भी बिक गई क्योंकि मूल्य बहुत कम था। मूल्य इसलिए बहुत कम था क्योंकि असली मूल्य पहले ही दिया जा चुका था। तो जो छपा हुआ मूल्य है बहुत आकर्षक लगता है समिति को। नियम भी कुछ इस तरह के हैं कई बार कि कोई किताब 8 रुपए में मिल रही है और उसके बरख्त दूसरी किताब 48 रुपए में है तो 8 रुपएवाली को प्राथमिकता मिलेगी। भले ही सबको पता हो कि 8 रुपए में आज कोई किताब नहीं छप सकती। सरकार भी बहुत से संशय लेकर चलती है और कोशिश करती है कि भ्रष्टाचार कम से कम हो। पर किताबों का व्यवसाय ही ऐसा है कि जितने नियम भ्रष्टाचार को कम करने के लिए बनाए जाते हैं, ठीक उन्हीं नियमों की आड़ में भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। और इस तरह से एक ऐसी परिस्थिति पैदा होती है जिसमें रह–रहकर बार–बार पैसा दिए जाने के बावजूद हमारी शिक्षण संस्थाओं में ऐसी किताबें नहीं पहुंच पाती है जो बच्चों को आकर्षित कर सके, जो अध्यापकों को आकर्षित कर सके। अगर आप पिछले 60–62 साल की कई योजनाओं पर विचार करें तो पाएंगे कि पहली योजना से लेकर आज 11वीं योजना तक शायद ही कोई पंचवर्षीय योजना रही हो जिसमें किताबों की ख़रीद के लिए प्रावधान न किया गया हो। एक–दो योजनाएं तो बहुत बड़ी किताबों की ख़रीद लेकर आई जैसे कि ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड जो कि नई शिक्षा नीति के संदर्भ में चला और उसमें भी ऐसे कई कांड हुए जिनमें से अभी भी कई का समाधान हो रहा है। किताबों की ख़रीद को लेकर बहुत बड़ी समस्याएं उस पूरे ऑपरेशन में आईं। जब ये किताबें स्कूल पहुंचती हैं तो इनका चूंकि ऐसा कोई कारण स्कूल में इस्तेमाल का नहीं है, जैसा मैंने पहले भी कहा, तो ये किताबें पड़ी रहती हैं। इसलिए आनेवाले अधिकारियों को भी लगता है कि ये पैसा बरबाद हुआ। अब क्यों फिर से पैसा लगाया जाए।

तो इस सम्मेलन में मुझे आशा है कि आप में से बहुत से लोग इन प्रश्नों पर भी विचार करेंगे कि अगर हम अपनी स्कूली व्यवस्था में परीक्षा प्रणाली, अध्यापकों के प्रशिक्षण, इन तमाम चीज़ों पर अधिक ध्यान देकर और उन तमाम सांस्कृतिक, शैक्षणिक प्रश्नों से जूझ भी लें जिनकी ओर मैंने पहले इशारा किया और एक पढ़ने का माहौल और एक लाइब्रेरी की ज़रूरत पैदा कर भी दें, तो भी ये प्रश्न रहेगा कि इसमें किस प्रकार सामग्री पहुंचे। एक ऐसे बाज़ार से होकर इस सामग्री को पहुंचना है जो बाज़ार अपने आप में बहुत नैतिक बाज़ार नहीं है। और इस वजह से उस पर निर्भर होना बहुत मुश्किल काम है।

तो एक तरह से ज़रूरत और समस्याएं ये दो पूरी करने के बाद मैं अपने तीसरे और अंतिम हिस्से पर आता हूं जहां पर मुझे आपसे साधनों की बात करनी है। इस पूरे परिदृश्य में बदलाव लाने के क्या साधन हैं? ख़ासकर दो साधनों की मुझे आपसे बात करनी है। एक तो शैक्षणिक साधन और दूसरे तकनीकी साधन। शैक्षणिक साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन शायद वो साधन हैं जो कि पढ़ना सिखाने के शिक्षण को प्रभावित कर सकते हैं। ये एक ऐसा विषय है जिस पर मेरी संस्था इस समय काफ़ी गहराई से काम करने का

प्रयास कर रही है। एनसीईआरटी ने एक रीडिंग डिवेलपमेंट सेल सर्व शिक्षा अभियान के अनुदान से खोला है। इस सेल में हमारी कोशिश है कि हमलोग नई तरह के पढ़ना सिखाने के कौशलों का प्रशिक्षण देश में प्रचारित कर सकें। इस सिलसिले में बाल साहित्य का इस्तेमाल, क्रमिक पुस्तकमाला का इस्तेमाल नई तरह की सामग्री का इस्तेमाल हम देश के राज्यों में प्रसारित करने की कोशिश कर रहे हैं। इस पूरी परियोजना के पीछे पढ़ने को लेकर एक दृष्टि है। वो दृष्टि पढ़ने की स्थापित संस्कृति से विपरीत है या उसकी विपरीत दिशा में जाती है। पढ़ने की स्थापित संस्कृति आज पढ़ने को एक यांत्रिक कौशल के रूप में विकसित करती है। अगर आप कक्षा 1 में जाएं इस ज़िले के तमाम स्कूलों में अगर आप कक्षा एक जो इस समय चल रही है, जुलाई से शुरू हुई है जाएं, तो अधिकांश सरकारी स्कूलों में और बहुत से प्रायव्हेट स्कूलों में भी आपको यही दृश्य देखने को मिलेगा कि बच्चे अक्षरों की आकृति से परिचित हो रहे हैं। उनके नाम याद कर रहे हैं और कुछ इस तरह की आवाज़ें आपको स्कूल से गुजरते समय आएंगी "क का कि की कु कू" या कि "अ आ इ ई" या "क पे उ की मात्रा कू, ग, पे, उ की मात्रा गू"। इस तरह से बच्चे रटते हुए आपको मिलेंगे जो कि अक्षरों और ध्वनियों के बीच संबंध बना रहे हैं। और ये सिलसिला कई महीनों तक चलेगा।

शिक्षा विज्ञान की दृष्टि से देखें तो ये सिलसिला न केवल पूर्णतः अवैज्ञानिक है इसलिए अमान्य है बल्कि साथ में ये एक बहुत दुःख भरा सिलसिला भी है क्योंकि बच्चों के बारे में हम जानते हैं कि अगर बच्चों में सबसे तीव्र किसी बात की इच्छा होती है तो वो यही होती है कि वो संसार को समझें। ऐसा कोई भी अनुभव जो उनकी समझने की इच्छा को, उनकी समझने की इच्छा को प्रोत्साहित नहीं करता, उद्दीप्त नहीं करता। ऐसा अनुभव उनको नागवार गुज़रता है। ऐसे अनुभव से पेश आते समय उनको बड़ा कष्ट होता है। ये जो अनुभव है अक्षरों की आकृतियां पहचानना, वर्णमाला याद करना, उसके क्रम को समझना और उसके बाद ध्वनियों को याद करना और फिर अक्षरों और ध्वनियों में संबंध बिठाना फिर मात्राओं को याद करना और इसके बाद कहीं जाकर पहला शब्द पढ़ने का मौक़ा मिलना जैसे कि "क म ल" "कमल"। कक्षा 1 के बच्चे के लिए बहुत ही बड़ी त्रासदी है।

यह कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारे अनेक अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि पढ़ना सिखाने की यह पारंपरिक विधियां बहुत बड़े पैमाने पर बच्चों को स्कूल में आते रहने को निरुत्साहित करती हैं। क्योंकि पढ़ना सिखाने की ऐसी पद्धति जो कि उबाऊ हो और जिसमें बार–बार प्रयास करने पर भी बच्चा पढ़ना ना सीख पाए, अंततः बच्चे को न केवल निराश करती है बल्कि दूसरों की निगाह में बदनाम भी करती है। दो–तीन महीने, चार महीने बाद भी अगर बच्चा कुछ नहीं पढ़ पाता तो जो ऐसे माता–पिता हैं जिन्होंने स्वयं पढ़ना नहीं सीखा था वो बच्चे से पूछते हैं कि तुम चार महीनों से जा रहे हो पढ़ना नहीं सीख पाए। इसका मतलब? इसका मतलब वो यह नहीं समझते हैं कि स्कूल में कोई कमी है। इसका मतलब वो समझते हैं कि बच्चे में कोई कमी है। वो कहते हैं इसका मतलब तुम बुद्धू हो। और अगर वो बच्चा लड़की हुआ तो आप मानकर चलिए कि उसको इससे ज़्यादा समय नहीं दिया जाएगा। ठीक है तुम बकरी चराओ, छोटे बच्चों को देखो, पढ़ने से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं है। तुम्हारा इतना दिमाग़ नहीं है। कक्षा 1 से 5 के बीच में ये दुर्घटनाएं लगातार होती है। बहुत से संदर्भों में आप कई जगह, कई इलाकों में देखेंगे कक्षा 5 का बच्चा भी स्वतंत्र रूप से पढ़ नहीं सकता है। बहुत से लोग इसी को लेकर व्यवस्था पर पिल पड़ते हैं कि ''फिर आपने पांचवीं में पहुंचाया ही क्यों?''

इस तरह के प्रश्न तमाम उठते हैं और मुझे आशा है कि आप भी छोटे समूह में इस पर विचार करेंगे। लेकिन इस पूरी चर्चा को यहां लाने का मैंने

एनसीईआरटी ने एक रिडिंग डिवेलपमेंट सेल सर्व शिक्षा अभियान के अनुदान से खोला है। इस सेल में हमारी कोशिश है कि हमलोग नई तरह के पढ़ना सिखाने के कौशलों का प्रशिक्षण देश में प्रचारित कर सकें।

इसलिए सोचा कि जब तक पढ़ना सिखाने की विधियों में और वो भी एकदम शैशव काल में, बचपन में विकास नहीं होगा, बदलाव नहीं होगा तब तक हमारा ये जो अरमान है कि लाइब्रेरी स्कूल का अंग बने, उसकी ज़रूरत बने और बच्चों में पढ़ने की इच्छा हो ये अरमान भी हमारा पूरा नहीं होगा। हमारी आज की स्कूली शिक्षा व्यवस्था या तो परीक्षार्थी बनाती है या बहुत साक्षर बनाती है। वो पाठक नहीं बनाती किसी को। इसी कारण से हम अपनी भाषाओं में देखते हैं कि बहुत अच्छे–अच्छे लेखक की हज़ार दो हज़ार प्रतियां बिक पाती हैं। बल्कि दो हज़ार प्रतियां अगर हिन्दी में किसी उपन्यास की बिक जाएं तो बहुत माना जाता है। भले ही 47 करोड़ लोगों की भाषावाला देश है ये। बड़ा भारी प्रश्न है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था इतना समय लगाती है फिर भी पाठक क्यों नहीं बना पाती। मांग–मांगकर पढ़नेवाले बच्चे क्यों नहीं आ पाते?

कुछेक प्रदेश हैं जैसे केरल, बंगाल जिनमें पाठक बनते हैं। शिक्षा व्यवस्था की वजह से बनते हैं या कोई और सांस्कृतिक कारण है क्योंकि इन प्रदेशों में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में किताबें बिकती हैं। यहां सार्वजनिक प्रयास हुए हैं। जैसे कि केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने बहुत बड़े पैमाने पर पुस्तकों की संस्कृति को केरल में विकसित किया। सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए 1930 के दशक से ही केरल में एक आंदोलन जैसा चला जिसकी वजह से आज वहां के गांव–गांव में पुस्तकालय मिलते हैं। कई समस्याओं को जिनको हम हिन्दी प्रदेश में आज भी झेल रहे हैं उन समस्याओं को केरल जीत चुका है। ऐसा नहीं है कि वो चयन के प्रश्न को जीत चुका है। नहीं जीता, बल्कि अभी आपने देखा कि हाल ही में केरल में एक पुस्तक को लेकर इतना झगड़ा हुआ कि एक हेडमास्टर की हत्या कर दी गई जबकि उस पाठ्यपुस्तक से उसका कोई लेना देना नहीं था। उस पुस्तक की प्रतियां जलाई गईं उस प्रदेश में जिसको देश का सबसे साक्षर प्रदेश कहते हैं। ज़ाहिर है वो साक्षर तो हो गया लेकिन किताबों की संस्कृति के मामले में अभी बहुत निरक्षर है या कि असहनशील है। वरना एक किताब को जलाने की नौबत नहीं आती। उस किताब में कुछ ऐसा लिखा जिससे लोग सहमत नहीं थे, तो वो दूसरी किताब लिखते क्योंकि अंततः किताब का जवाब तो किताब ही है। किताबों का जवाब तो हर बच्चे के पास है, हर नागरिक के पास है। क्योंकि वो अगर सचमुच एक जीवित लोकतंत्र का नागरिक है तो उसमें इतनी कुव्वत होगी कि कौन सी किताब में बकवास लिखी है और कौन सी किताब में कोई ढंग की बात लिखी है। ये निर्णय अंततः नागरिक का है, बच्चे का है। उसके हाथ से किताब छीनकर पहले ही जला देना या छिपा देना जिससे वो न पढ़ने पाए, या दृष्टिकोण कुछ–कुछ वैसा ही जैसा कि हमने कुछ समय पहले जर्मनी का दृष्टांत देते हुए आपके सामने रखने की कोशिश की थी।

अंत में वो दूसरा साधन जिसकी ओर आजकल बहुत लोग आशा के दृष्टिकोण से देखते हैं और इस सम्मेलन के इन्ट्रोडक्ट्री नोट में उसका भी ज़िक्र है कि क्या ये जो नई सूचना प्रोद्यौगिकी है जिसको आई.सी.टी. के नाम से जाना जाता है। क्या ये नई संस्कृति किताबों की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है। अगर किताबों को छोड़ भी दें, तो क्या यह पढ़ने की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है। बहुत पेचीदा प्रश्न है क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि इस टेक्नॉलॉजी की मदद से आज ये संभव हुआ है कि बहुत से लोग जो कि किताबों से वंचित रखे गए हैं, जिनके गांव शहर तक किताबें नहीं पहुंचती, वो भी किसी प्रकार उन विचारों को ख़ुद पढ़ सके जिन विचारों को वो किताबों में नहीं पढ़ सकें। आज यह संभव हुआ है और इस दृष्टिकोण से देखें तो ये टेक्नॉलॉजी हमारे सामने एक ऐसा बिहान जगाती है, ऐसा लगता है कि एक ऐसी सुबह होने जा रही है जैसी सुबह कभी किसी ने देखी नहीं है। लेकिन परेशानियां भी हैं।

हमारी आज की स्कूली शिक्षा व्यवस्था या तो परीक्षार्थी बनाती है या बहुत से बहुत साक्षर बनाती है। वो पाठक नहीं बनाती किसी को। और इसी कारण से हम अपनी भाषाओं में देखते हैं कि बहुत अच्छे–अच्छे लेखक की हज़ार दो हज़ार प्रतियां बिक पाती हैं।

परेशानियां इस कारण हैं कि जो

समस्याएं किताबों के जंगल से किताबें बीनकर ख़रीदने में होती थी वो किताबें इंटरनेट के जंगल में भी वैसी ही है। क्योंकि इंटरनेट का जंगल भी कोई बहुत नैतिक जंगल नहीं है। डार्विन ने कहा था कि जंगल का मतलब ही यह है कि जहां शक्ति का बोलबाला हो, नीति का स्थान ना हो। वो बात तो वहां भी लागू होती है और हर तरह की सूचना वहां उपलब्ध है। दुनिया में हज़ारों की मात्रा में गुमराह किए जाते हुए युवक भी इंटरनेट के विश्वविद्यालय से ही पढ़ रहे हैं। लाखों की मात्रा में निराश होते हुए विकृत मानसिकता की ओर बढ़ते हुए बच्चों के लिए भी इंटरनेट का रास्ता खुला हुआ है। इंटरनेट पर किसी का ज़ोर नहीं है। अगर इंटरनेट को इस्तेमाल करना है, स्कूल की संस्कृति में पढ़ने–लिखने की जगह बनाने के लिए, सुनने–सुनाने की जगह बनाने के लिए, एक अहिंसक शांतिपूर्ण जगह बनाने के लिए, तो भी अंत में हमारे पास इसका कोई विकल्प नहीं होगा कि हम एक ऐसे जगत की कल्पना करें जिसमें क्या बकवास है और क्या नहीं हैं यह निर्णय करने का अधिकार भी विद्यार्थी के पास हो और इस निर्णय को करने की क्षमता भी उसमें विकसित की जा चुकी हो।

दूसरा मसला है आई.सी.टी. के विद्वान भी बहुत स्पष्ट नहीं बता पा रहे हैं कि क्या आई.सी.टी. में वो क्षमता है या वो क्षमता उस पीढ़ी को दिखलाई दे रही है जो किताबों की मदद से जिज्ञासा पैदा कर सकी, बनाए रख सकी। आज आई.सी.टी. की मदद से उसको पूरा किए ले रही है। लेकिन कल के दिन अगर सिर्फ़ आई.सी.टी. ही होगी और किताबें नहीं होंगी तो क्या वैसा माहौल पैदा हो पाएगा कि हम बच्चे से उम्मीद करें कि वो कोई प्रश्न लेकर मन में चले और उसका तुरन्त उत्तर ना मिलने पर निराश ना हों, महीनों तक उसकी खोज करता रहे अनेक तरह की चीज़ें पढ़ता रहे, देखता रहे तब जाकर उसके मन में कोई विचार बने।

दुनिया में हज़ारों की मात्रा में गुमराह किए जाते हुए युवक भी इंटरनेट के विश्वविद्यालय से ही पढ़ रहे है। लाखों की मात्रा में निराश होते हुए विकृत मानसिकता की ओर बढ़ते हुए बच्चों के लिए भी इंटरनेट का रास्ता खुला हुआ है। इंटरनेट पर किसी का ज़ोर नहीं है।

शिक्षा के बहुत महत्त्वपूर्ण मूल्यों में से एक है अनिश्चय में रहना फिर भी सुखी रहना। आई.सी.टी. की संस्कृति में कहीं न कहीं समय का प्रबन्धन एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जैसे कि पारंपरिक लाइब्रेरी के निर्माण में जगह का प्रबन्धन एक बहुत बड़ी समस्या थी वैसे ही आई.सी.टी. के संदर्भ में समय का प्रबन्धन बहुत मुश्किल है क्योंकि ये जो नई टेक्नॉलॉजी है ये जगह तो नहीं मांगती लेकिन समय को लेकर एक नई समस्या पैदा करती है कि इनके आने के बाद किसी में धैर्य नहीं रहता। लोग तुरन्त अपने प्रश्न का उत्तर चाहते हैं और तुरन्त अगर कोई जवाब नहीं मिलता तो निराश हो जाते हैं। मैं देखता हूं कि अगर आप किसी के ई–मेल का जवाब हफ्ता दो हफ़्ता ना दें तो वो सोचता है कि अब आप सचमुच सरकारी अधिकारी बन गए। यानीकि अब आप कुन्द हो गए। ई–मेल लिखनेवाले को लगता है कि जितना समय मुझे इसको भेजने में लगा उतना ही समय आपको इसको समझने में लगना चाहिए। इतने ही समय में आपको इसका जवाब दे देना चाहिए। ई–मेल, इंटरनेट का एक पहलू भर है लेकिन वो इसकी सांस्कृतिक संरचना भी है। वो एक मानसिक संरचना भी है। किताबों की संस्कृति और आई.सी.टी. की संस्कृति में समय के प्रबन्धन को लेकर एक गहरी बहस छिपी हुई है, फंसी हुई है। मुझे आशा है आप इस बहस को आज शुरू करेंगे छोटे समूहों में। इससे जुड़े हुए प्रश्न उभारेंगे।

मैं बहुत आभारी हूं कि आपने इतना लम्बा समय मुझे इन बातों को रखने के लिए दिया। मुझे आशा है कि यह संगोष्ठी जिस उद्देश्य के लिए आयोजित की गई, उस उद्देश्य को लेकर बहुत से लोगों और ख़ासकर विद्या भवन सोसायटी को बहुत लम्बे समय के लिए कुछ योजनाएं बनाने के लिए प्रोत्साहित करेंगी। इस काम में हम सभी लोग साथ में हैं इसलिए एक दूसरे को बधाई या शुभ कामनाएं देने का कोई कारण नहीं है। पर इस सम्मेलन के सफल आयोजन के लिए मैं फिर भी विद्या भवन को बधाई देता हूं। धन्यवाद।

कृष्ण कुमार – एनसीईआरटी के निदेशक हैं।